

ग्रन्थ-परीक्षा : उमास्वामि-श्रावकाचार

जैनसमाज में उमास्वामी या उमास्वाति नाम के एक बड़े भारी विद्वान् आचार्य हो गये हैं, जिनके निर्माण किये हुए तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, गंधहस्तिमहाभाष्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण बड़ी-बड़ी टीकाएँ और भाष्य बन चुके हैं। जैन सम्प्रदाय में भगवान् उमास्वामी का आसन बहुत ऊँचा है और उनका पवित्र नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। उमास्वामी महाराज श्री कुन्दकुन्द मुनिराज के प्रधान शिष्य कहे जाते हैं और उनका अस्तित्व विक्रम की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के सिवाय भगवत् उमास्वामी ने किसी अन्य ग्रन्थ का प्रणयन किया या नहीं? और यदि किया, तो किस-किस ग्रन्थ का? यह बात अभी तक प्रायः अप्रसिद्ध है। आमतौर पर जैनियों में आपकी कृतिरूप से तत्त्वार्थसूत्र की ही सर्वत्र प्रसिद्धि पाई जाती है। शिलालेखों तथा अन्य आचार्यों के बनाए हुए ग्रन्थों में भी उमास्वामी के नाम के साथ तत्त्वार्थसूत्र का उल्लेख मिलता है।^१

'उमास्वामी-श्रावकाचार' भी कोई ग्रन्थ है, इतना परिचय मिलते ही पाठकहृदयों में स्वभाव से ही यह प्रश्न उत्पन्न होना सम्भव है कि क्या उमास्वामी महाराज ने कोई पृथक् 'श्रावकाचार' भी बनाया है? और यह श्रावकाचार, जिसके साथ में उनके नाम का सम्बन्ध है, क्या वास्तव में उन्हीं उमास्वामी महाराज का बनाया हुआ है, जिन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की है? अथवा इसका बनाने वाला कोई दूसरा ही व्यक्ति है? जिस समय सबसे पहले मुझे इस ग्रन्थ के शुभ नाम का परिचय मिला था, उस समय मेरे हृदय में भी ऐसे ही विचार उत्पन्न हुए थे। मेरी बहुत दिनों से इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा थी। परन्तु ग्रन्थ न मिलने के कारण वह अभी तक पूरी न हो सकी थी। हाल में श्रीमान् साहू जुगमंदरदासजी रईस, नजीबाबाद की कृपा से मुझे ग्रन्थ का दर्शन सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिये मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ और वे मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा की एक टीका भी मिलती है, जिसको किसी 'हलायुध' नाम के पण्डित ने बनाया है। हलायुधजी कब और कहाँ पर हुए और उन्होंने किस सन्-सम्वत् में इस भाषाटीका को बनाया, इसका कुछ भी पता उक्त टीका से नहीं लगता। हलायुध जी ने इस विषय में

१. यथा-अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रं वंशे तदीये सकलार्थवेदी।

सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥ -श्रवणबेलगोलस्थ शिलालेखः।

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।

यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्॥ -वादिराजसूरिः।

अपना जो कुछ परिचय दिया है, उसका एक मात्र परिचायक, ग्रन्थ के अंत में दिया हुआ, यह छन्द है—

चंद्रवाडकुलगोत्र सुजानि । नाम हलायुध लोक बखानि ।

तानें रचि भाषा यह सार । उमास्वामि को मूल सुसार॥

इस ग्रन्थ के श्लोक नं० ४०१ की टीका में ‘दुःश्रुति’ नाम के अनर्थदण्ड का वर्णन करते हुए हलायुध जी ने मोक्षमार्गप्रकाश, ज्ञानानंदनिर्भरनिजरसपूरितश्रावकाचार, सुदृष्टितरंगिणी, उपदेशसिद्धान्त-रत्नमाला, रत्नकरण्डकश्रावकाचार की पं० सदासुखजी कृत भाषावचनिका और विद्वज्जनबोधक को पूर्वानुसाररहित, निर्मूल और कपोल-कल्पित बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि “इन शास्त्रों में आगमविरुद्ध कथन किया गया है, ये पूर्वापरविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं, वाग्जाल हैं, भोले मनुष्यों को रंजायमान करे हैं, ज्ञानीजनों के आदरणीय नहीं हैं इत्यादि।” पं० सदासुख जी की भाषावचनिका के विषय में खासतौर से लिखा है कि “रत्नकरण्डक मूल तो प्रमाण है बहुरि देशभाषा अप्रमाण है। कारण पूर्वापर-विरुद्ध, निन्दाबाहुल्य, आगमविरुद्ध, क्रमविरुद्ध, वृत्तिविरुद्ध, सूत्रविरुद्ध, वार्तिकविरुद्ध कई दोषनिकरि मंडित है यातैं अप्रमाण, वाग्जाल है।” इन ग्रन्थों में क्षेत्रपालपूजन, शासनदेवतापूजन, सकलीकरणविधान और प्रतिमा के चंदनचर्चन आदि कई बातों का निषेध किया गया है। जल को अपवित्र बतलाया गया है, खड़े होकर पूजन का विधान किया गया है, इत्यादि कारणों से ही शायद हलायुध जी ने इन ग्रन्थों को अप्रमाण और आगमविरुद्ध ठहराया है। अस्तु; इन ग्रन्थों की प्रमाणता या अप्रमाणता का विषय यहाँ विवेचनीय न होने से, इस विषय में कुछ न लिखकर मैं यह बतला देना जरूरी समझता हूँ कि हलायुध जी के इस कथन और उल्लेख से यह बात बिल्कुल हल हो जाती है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि आपकी यह टीका ‘रत्नकरण्डकश्रावकाचार’ की (पं० सदासुखजी कृत) भाषावचनिका तथा ‘विद्वज्जनबोधक’ की रचना के पीछे बनी है, तभी उसमें इन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। पं० सदासुख जी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार की उक्त भाषावचनिका विक्रम संवत् १९२० की चैत्र कृष्ण १४ को बनाकर पूर्ण की है और ‘विद्वज्जनबोधक’ संघी पन्नालाल जी दूणी वालों के द्वारा जो उक्त पं० सदासुख जी के शिष्य थे, माघ सुदी पंचमी संवत् १९३९ को बनकर समाप्त हुआ है। इसलिए हलायुध जी की यह भाषाटीका विक्रम संवत् १९३९ के बाद की बनी हुई निश्चित होती है।

हलायुध जी ने अपनी इस टीका में स्थान-स्थान पर इस बात को प्रकट किया है कि यह ‘श्रावकाचार’ सूत्रकार भगवान् उमास्वामी महाराज का बनाया हुआ है और इसके प्रमाण में आपने निम्नलिखित श्लोक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसा कि उनकी टीका से प्रकट है—

सूत्रे तु सप्तमेप्युक्ताः पृथक् नोक्तास्तदर्थतः ।

अवशिष्टः समाचारः सोऽत्र वै कथितो ध्रुवम्॥४६२॥

टीका- “ते सत्तर अतिचार मैं सूत्रकार ने सप्तम सूत्र में कह्यो है, ता प्रयोजन तैं इहां जुदा नहीं

कह्ना है। जो सप्तमसूत्र में अवशिष्ट समाचार है सो यामें निश्चय करि कह्ना है। अब याकूं जो अप्रमाण करै ताकूं अनंतसंसारी, निगोदिया, पक्षपाती कैसे नहीं जाण्यो जाये जो बिना विचार्या याका कर्ता दूसरा उमास्वामी है सो याकूं किया है (ऐसा कहै) सो भी यावचन करि मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही, निंदक, अज्ञानी जाणना!”

इस श्लोक से भगवदुमास्वामी का ग्रन्थ-कर्तृत्व सिद्ध हो या न हो, परन्तु इस टीका से इतना पता जरूर चलता है कि जिस समय यह टीका लिखी गई है, उस समय ऐसे लोग भी मौजूद थे जो इस ‘श्रावकाचार’ को भगवान् उमास्वामी सूत्रकार का बनाया हुआ नहीं मानते थे, बल्कि इसे किसी दूसरे उमास्वामी का या उमास्वामी के नाम से किसी दूसरे व्यक्ति का बनाया हुआ बतलाते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे लोगों के प्रति हलायुध जी के कैसे भाव थे और वे तथा उनके समान विचार के धारक मनुष्य उन लोगों को कैसे-कैसे शब्दों से याद किया करते थे। ‘संशय-तिमिरप्रदीप’ में, पं० उदयलाल जी कासलीवाल भी इस ग्रन्थ को भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ लिखते हैं। लेकिन इसके विरुद्ध पं० नाथूराम जी प्रेमी अनेक सूचियों के आधार पर संग्रह की हुई अपनी “दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ” नामक सूची द्वारा यह सूचित करते हैं कि यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है, किन्तु किसी दूसरे (लघु) उमास्वामी का बनाया हुआ है। परन्तु दूसरे उमास्वामी या लघु उमास्वामी कब हुए हैं और किसके शिष्य थे, इसका कहीं भी कुछ पता नहीं है। दरयाप्त करने पर भी यही उत्तर मिलता है कि हमें इसका कुछ भी निश्चय नहीं है। जो लोग इस ग्रन्थ को भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ बतलाते हैं, उनका यह कथन किस आधार पर अवलम्बित है? और जो लोग ऐसा मानने से इंकार करते हैं, वे किन प्रमाणों से अपने कथन का समर्थन करते हैं? आधार और प्रमाण की ये सब बातें अभी तक आमतौर से कहीं पर प्रकाशित हुई मालूम नहीं होतीं, न कहीं पर इनका जिक्र सुना जाता है और न श्री उमास्वामी महाराज के पश्चात् होने वाले किसी माननीय आचार्य की कृति में इस ग्रन्थ का नामोल्लेख मिलता है। ऐसी हालत में इस ग्रन्थ की परीक्षा और जाँच का करना बहुत जरूरी मालूम होता है। ग्रन्थ-परीक्षा को छोड़कर दूसरा कोई समुचित साधन इस बात के निर्णय का प्रतीत नहीं होता कि यह ग्रन्थ वास्तव में किसका बनाया हुआ है और कब बना है?

ग्रन्थ के साथ उमास्वामी के नाम का सम्बन्ध है, ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से पूर्व के काव्य में ‘स्वामी’ शब्द पड़ा हुआ है और खुद ग्रन्थकर्ता महाशय उपर्युक्त श्लोक नं० ४६२ के द्वारा यह प्रकट करते हैं कि “इस ग्रन्थ में सातवें सूत्र से अवशिष्ट समाचार वर्णित है, इसी से ७० अतिचार जो सातवें अध्याय के सूत्र में वर्णन किये गये हैं, वे यहाँ पृथक् नहीं कहे गये” इन सब बातों से यह ग्रन्थ सूत्रकार

२. अन्तिम श्लोक से पूर्व का वह काव्य इस प्रकार है—

इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमतिबुधोधावसकथं स्वामिभिश्च ।

विनयभरनतांगाः सम्यगाकर्णयन्तु विशदमतिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवन्तु॥४७३॥

भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ सिद्ध नहीं हो सकता। एक नाम के अनेक व्यक्ति भी होते हैं, जैन साधुओं में भी एक नाम के धारक अनेक आचार्य और भट्टारक हो गये हैं, किसी व्यक्ति का दूसरे के नाम से ग्रन्थ बनाना भी असंभव नहीं है। इसलिए जब तक किसी माननीय प्राचीन आचार्य के द्वारा यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ स्वीकृत न किया गया हो या खुद ग्रन्थ ही अपने साहित्यादि से उसका साक्षी न दे, तब तक नामादिक के सम्बन्धमात्र से इस ग्रन्थ को भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ नहीं कह सकते। किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में इस ग्रन्थ का कहीं नामोल्लेख तक न मिलने से अब हमें इसके साहित्य की जाँच द्वारा यही देखना चाहिए कि यह ग्रन्थ वास्तव में सूत्रकार भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ है या कि नहीं? यदि परीक्षा से यह ग्रन्थ सचमुच ही सूत्रकार श्री उमास्वामी का बनाया हुआ सिद्ध हो जाये, तब तो ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे यह ग्रन्थ अच्छी तरह से उपयोग में लाया जाये और तत्त्वार्थसूत्र की तरह इसका भी सर्वत्र प्रचार हो सके। अन्यथा विद्वानों को, सर्वसाधारण पर यह प्रकट कर देना चाहिए कि यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है, जिससे लोग इस ग्रन्थ को उसी दृष्टि से देखें और वृथा भ्रम में न पड़ें।

ग्रन्थ को परीक्षा-दृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि इस ग्रन्थ का साहित्य बहुत से ऐसे पद्यों से बना हुआ है, जो दूसरे आचार्यों के बनाये हुए सर्वमान्य ग्रन्थों से या तो ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं या उनमें कुछ थोड़ा-सा शब्द-परिवर्तन किया गया है। जो पद्य ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं, वे 'उक्तं च' या 'उद्धृत' रूप से नहीं लिखे गये हैं और न हो सकते हैं, इसलिए ग्रन्थकर्ता ने उन्हें अपने ही प्रकट किये हैं। भगवान् उमास्वामी जैसे महान् आचार्य दूसरे आचार्यों के बनाये हुए ग्रन्थों से पद्य लेवें और उन्हें अपने नाम से प्रकट करें, यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा करना उनकी योग्यता और प्रतिष्ठा के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि एक प्रकार का नीच कर्म भी है। जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें यशस्तिलक में श्री सोमदेव आचार्य ने साफतौर से काव्यचोर और पातकी लिखा है। यथा—

कृत्वा कृतीः पूर्वकृता पुरस्तात् प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।

तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोस्तु स पातकी च॥

लेकिन पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस ग्रन्थ में जिन पद्यों को ज्यों का त्यों या कुछ बदलकर रखा है, वे अधिकतर उन आचार्यों के बनाये हुए ग्रन्थों से लिये गये हैं, जो सूत्रकार श्री उमास्वामी से अनेक शताब्दियों के पीछे हुए हैं और वे पद्य ग्रन्थ के अन्य स्वतंत्र बने हुए पद्यों से अपनी शब्दरचना और अर्थगांभीर्यादि के कारण स्वतः भिन्न मालूम पड़ते हैं और उन मणिमालाओं (ग्रन्थों) का स्मरण कराते हैं, जिनसे वे पद्यरत्न लेकर इस ग्रन्थ में गूँथे गये हैं। उन पद्यों में से कुछ पद्य नमूने के तौर पर यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ प्रकट किये जाते हैं—

१. ज्यों के त्यों उठाकर रखे हुए पद्य—

क. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥६६॥
ग्रन्थार्थोभयपूर्ण काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्वितं ज्ञानमाराध्यम् ॥२४९॥
संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥४३७॥
ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वं ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारत्वमिति हि दातृगुणाः ॥४३८॥

ये चारों पद्य श्री अमृतचन्द्राचार्यविरचित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से उठाकर रखे गये हैं। इनकी टकसाल ही अलग है, ये 'आर्या' छंद में हैं। समस्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इसी आर्या छंद में लिखा गया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इन पद्यों के नम्बर क्रमशः ३०, ३६, १६८ और १६९ दर्ज हैं।

ख. यशस्तिलक से—

यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि ।
अंगुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥४५॥
संगे कापालिकात्रेयीचांडालशबरादिभिः ।
आप्लुत्यदंडवत्सम्यग्जपेन्मंत्रमुपोषितः ॥४६॥
एकरात्रं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥४७॥
मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥२७६॥
शुद्धं दुग्धं न गोर्मासं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं ।
विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥२७९॥
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोर्थिभिः सदा ॥२८४॥

ये सब पद्य श्री सोमदेवसूरिकृत यशस्तिलक से उठाकर रखे हुए मालूम होते हैं। इन पद्यों में पहले तीन पद्य यशस्तिलक के छठे आश्वास के और शेष सातवें आश्वास के हैं।

ग. योगशास्त्र (श्वेताम्बरीय ग्रन्थ) से—

सरागोपि हि देवश्चेदुरुरब्रह्मचार्यपि ।
 कृपाहीनोऽपि धर्मश्चेत्कष्टं नष्टं हहा जगत्॥११॥
 हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृतापि हि ।
 कुलाचारधियाप्येषा कृता कुलविनाशिनी॥३३१॥
 मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
 एतन्मांसस्य मांसत्वे निरुक्तिं मनुरब्रवीत्॥२६५॥
 उलूक - काक - मार्जार - गृध - शंबरशूकराः ।
 अहिर्वृश्चिकगोधाश्च जायेते रात्रिभोजनात्॥३२६॥

ये चारों पद्य श्री हेमचन्द्राचार्यविरचित योगशास्त्र से लिये हुए मालूम होते हैं। इनमें से शुरू के दो पद्य योगशास्त्र के दूसरे प्रकाश में (अध्याय) क्रमशः नं० १४-२९ पर और शेष दोनों पद्य तीसरे प्रकाश में नं० २६ और ६७ पर दर्ज हैं। तीसरे पद्य के पहले तीन चरणों में मनुस्मृति के वचन का उल्लेख है।

घ. विवेकविलास (श्वे. ग्रन्थ) से—

आरभ्यैकांगुलाद्विम्बाद्यावदेकादशांगुलं। (उत्तरार्ध) १०३॥
 गृहे संपूजयेद्विम्बमूर्ध्वं प्रासादगं पुनः ।
 प्रतिमाकाष्ठलेपाश्मस्वर्णरूप्यायसां^३ गृहे॥१०४॥
 मानाधिकपरिवाररहिता नैव पूजयेत्। (पूर्वार्ध) १०५॥
 प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकं ।
 सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥१०७॥
 अतीताब्दशतं यत्स्यात् यच्च स्थापितमुत्तमैः ।
 तद्यंगमपि पूज्यं स्याद्विम्बं तन्निष्फलं न हि॥१०८॥

ये सब पद्य जिनदत्त सूरिकृत 'विवेकविलास' के प्रथम उल्लास में क्रमशः नं० १४४, १४५, १७८ और १४० पर दर्ज हैं और प्रायः वहीं से उठाकर यहाँ रखे गये मालूम होते हैं। ऊपर जिन उत्तरार्ध और पूर्वार्धों को मिलाकर दो कोष्ठक दिये गये हैं, विवेकविलास में ये दोनों श्लोक इसी प्रकार स्वतंत्ररूप से नं० १४४ और १४५ पर लिखे हैं अर्थात् उत्तरार्ध को पूर्वार्ध और पूर्वार्ध को उत्तरार्ध लिखा है। उमास्वामि-श्रावकाचार में उपर्युक्त श्लोक नं० १०३ का पूर्वार्ध और श्लोक नं० १०५ का उत्तरार्ध

३. विवेकविलास में 'स्वर्णरूप्यायसां' की जगह 'दन्तचित्रायसां' पाठ दिया है।

इस प्रकार से दिया है—

नवांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडांगुले (पूर्वार्ध) १०३।

काष्ठलेपायसां भूताः प्रतिमाः साम्प्रतं न हि (उत्तरार्ध) १०५।

श्लोक नं० १०५ के इस उत्तरार्ध से मालूम होता है कि उमास्वामि-श्रावकाचार के रचयिता ने विवेकविलास के समान काष्ठ, लेप और लोहे की प्रतिमाओं का श्लोक नं० १०४ में विधान करके फिर उनका निषेध इन शब्दों में किया है कि आजकल ये काष्ठ, लेप और लोहे की प्रतिमायें पूजन के योग्य नहीं हैं। इसका कारण अगले श्लोक में यह बतलाया है कि ये वस्तुयें यथोक्त नहीं मिलतीं और जीवोत्पत्ति आदि बहुत से दोषों की सम्भावना रहती है। यथा—

योग्यस्तेषां यथोक्तानां लाभस्यापित्वभावतः।

जीवोत्पत्त्यादयो दोषा बहवः संभवन्ति च ॥१०६॥

ग्रन्थकर्ता का यह हेतु भी विद्वज्जनों के ध्यान देने योग्य हैं।

ड. धर्मसंग्रहश्रावकाचार से—

माल्यधूपप्रदीपाद्यैः सचितैः कोऽर्चयेज्जिनम्।

सावद्यसंभवाद्वक्ति यः स एवं प्रबोध्यते॥१३७॥

जिनार्चनेकजन्मोत्थं किल्बिषं हन्ति या कृता।

सा किन्न यजनाचारैर्भवं सावद्यमगिनाम्॥१३८॥

प्रेर्यन्ते यत्र वातेन दन्तिनः पर्वतोपमाः।

तत्राल्पशक्तितेजस्सु दंशकादिषु का कथा॥१३९॥

भुक्तं स्यात्प्राणनाशाय विषं केवलमगिनाम्।

जीवनाय मरीचादिसदौषविमिश्रितम्॥१४०॥

तथा कुटुम्बभोग्यार्थमारंभः पापकृद्भवेत्।

धर्मकृद्भानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा॥१४१॥

ये पाँचों पद्य पं० मेधावीकृत 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के ९वें अधिकार में नं० ७२ से ७६ तक दर्ज हैं। वहीं से लिये हुए मालूम होते हैं।

च. अन्य ग्रन्थों के पद्य—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधःस्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥२६४॥

आसन्नभव्यता कर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः।

सम्यक्त्व-हेतुरन्तर्बाह्योप्युपदेशकादिश्च ॥२३॥

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती।

वात्सल्यं त्वनुकम्पा चाष्टगुणाः सन्ति सम्यक्त्वे॥७०॥

इन तीनों पद्यों में से पहला पद्य मनुस्मृति के पाँचवें अध्याय का ४८वाँ पद्य है। योगशास्त्र में श्री हेमचन्द्राचार्य ने इसे तीसरे प्रकाश में उद्धृत किया है और मनु का लिखा है इसीलिए या तो यह पद्य सीधा 'मनुस्मृति' से लिया गया है या अन्य पद्यों के समान योगशास्त्र से ही उठाकर रखा गया है। दूसरा पद्य यशस्तिलक के छठे आशवास में और धर्मसंग्रह श्रावकाचार के चौथे अधिकार में 'उक्तं च' रूप से लिखा है। यह किसी दूसरे ग्रन्थ का पद्य है, इसकी टकसाल भी अलग है, इसलिए ग्रन्थकर्ता ने या तो इसे सीधा उस दूसरे ग्रन्थ से ही उठाकर रखा है या उक्त दोनों ग्रन्थों में से किसी ग्रन्थ से लिया गया है। तीसरा पद्य 'वसुनन्दिश्रावकाचार' की निम्नलिखित प्राकृत गाथा की संस्कृत छाया है—

संबेओ णिब्बेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भक्ती।

वच्छल्लं अणुकंपा अट्टगुणा हुंति सम्मत्ते॥४९॥

इस गाथा का उल्लेख 'पंचाध्यायी' में भी पृष्ठ १३३ पर, 'उक्तं च' रूप से पाया जाता है। इसलिए यह तीसरा पद्य या तो 'वसुनन्दिश्रावकाचार' की टीका से लिया गया है या इस गाथा पर से उल्था किया गया है।

(२) अब उदाहरण के तौर पर कुछ परिवर्तित पद्य, उन पद्यों के साथ जिनको परिवर्तन करके वे बनाये गये मालूम होते हैं, नीचे प्रकट किये जाते हैं। इन्हें देखकर परिवर्तनादि का अच्छा अनुभव हो सकता है। इन पद्यों का परस्पर शब्दसौष्ठव और अर्थगौरवादि सभी विषय विद्वानों के ध्यान देने योग्य हैं—

१. स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।

निर्जुगप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥१३॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार

स्वभावादशुचौ देहे रत्नत्रयपवित्रिते।

निर्धृणा च गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥४९॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

२. ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।

अष्टावाश्रित्यमानित्वं समयमाहुर्गतस्मयाः॥२५॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार

४. यह पूर्वार्द्ध 'स्वयूथ्यान्प्रति' इस इतने ही पद का अर्थ मालूम होता है। 'सद्भावसनाथा--' इत्यादि गौरवान्वित पद का इसमें भाव भी नहीं आया।

- ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्यमानित्वं गतदर्पा मदं विदुः॥८५॥
—उमास्वामिश्रावकाचार
३. दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते॥१६॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार
- दर्शनज्ञानचारित्रयाद्भ्रष्टस्य जन्मिनः।
प्रत्यवस्थापनं तज्ञाः स्थितीकरणमूचिरे॥५८॥
—उमास्वामिश्रावकाचार
४. स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भाव - सनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलष्यते॥१७॥
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार
- *साधूनां साधुवृत्तीनां सागाराणां सधर्मिणाम्।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं तज्ञैर्वात्सल्यमुच्यते॥६३॥
—उमास्वामिश्रावकाचार
५. सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥३३॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
- सम्यग्ज्ञानं मतं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं यतः।
ज्ञानस्याराधनं प्रोक्तं सम्यक्त्वानन्तरं ततः॥२४७॥
—उमास्वामिश्रावकाचार
६. हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥१०८॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
- तिलनाल्यां तिला यद्वत् हिंस्यन्ते बहवस्तथा।
जीवा योनौ च हिंस्यन्ते मैथुने निंद्यकर्मणि॥३७०॥
—उमास्वामिश्रावकाचार
७. मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत्॥
—यशस्तिलक

मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाद्भवापदाम् ।

मद्यं सद्भिः सदा हेयमिहामुत्र च दोषकृत् ॥२६१॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

८. मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।

अष्टौ शंकादयश्चेतिद्वुदोषाः पञ्चविंशतिः ॥८०॥

—यशस्तिलक

मूढत्रिकं चाष्टमदास्तथानायतनानि षट् ।

शंकादयस्तथा चाष्टौ कुदोषाः पञ्चविंशतिः ॥८०॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

९. साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते ।

कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परं ॥२/५८॥

—अमितगत्युपासकाचार

साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमीरितम् ।

साधनं द्वितयं साध्यं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥२७॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

१०. हन्ता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा ।

क्रेतानुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः ॥३/२०॥

—योगशास्त्र

हन्ता दाता च संस्कर्तानुमन्ता भक्षकस्तथा ।

क्रेता पलस्य विक्रेता यः स दुर्गतिभाजनं ॥२६३॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

११. स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रति चिकीर्षति ।

स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति ॥२/८२॥

—योगशास्त्र

मैथुनेन स्मराग्निं यो विध्यापयितुमिच्छति ।

सर्पिषा स ज्वरं मूढः प्रौढं प्रति चिकीर्षति ॥३७१॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

५. इसके आगे 'मनुस्मृति' के प्रमाण दिये हैं, जिनमें से एक प्रमाण 'नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा...' इत्यादि ऊपर उद्धृत किया गया है ।

१२. कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्छा भ्रमिग्लानिर्बलक्षयः।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः॥२/७९॥

—योगशास्त्र

स्वदो भ्रान्तिः श्रमो ग्लानिर्मूर्च्छा कम्पो बलक्षयः।
मैथुनोत्था भवत्येते व्याधयोप्याधयस्तथा॥३६८॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

१३. रजनीभोजनत्यागे ये गुणाः परितोपि तान्।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः॥३/७०॥

—योगशास्त्र

रात्रिभुक्तिविमुक्तस्य ये गुणाः खलु जन्मिनः।
सर्वज्ञमन्तरेणान्यो न सम्यग्वक्तुमीश्वरः॥३२७॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में श्री हेमचन्द्राचार्य ने १५ मलीन कर्मादानों के त्यागने का उपदेश दिया है, जिनमें पाँच जीविका, पाँच वाणिज्य और पाँच अन्य कर्म हैं। इनके नाम दो श्लोकों (नं० ९९-१००) में इस प्रकार दिये हैं—

१. अंगारजीविका, २. वनजीविका, ३. शकटजीविका, ४. भाटकजीविका, ५. स्फोटकजीविका, ६. दन्तवाणिज्य, ७. लाक्षावाणिज्य, ८. रसवाणिज्य, ९. केशवाणिज्य, १०. विषवाणिज्य, ११. यंत्रपीडा, १२. निर्लाछन^६, १३. असतीपोषण, १४. दवदान और १५. सरःशोष। इसके पश्चात् (श्लोक नं० ११३ तक) इन १४ कर्मादानों का पृथक्-पृथक् स्वरूप वर्णन किया है। जिसका कुछ नमूना इस प्रकार है—

अंगारभ्रष्टाकरणाकुंभायःस्वर्णकारिता ।
ठठारत्वेष्टकापाकावितीह्यंगारजीविका ॥१०१॥
नवनीतवसाक्षौद्रमद्यप्रभृतिविक्रयः ।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रेयो वाणिज्यं रसवेशयोः॥१०८॥
नासावेधोङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनं।
कर्णकम्बलविच्छेदो निर्लाछनमुदीरितं॥१११॥
सारिकाशुकमार्जारश्वकुर्कटलापिनाम् ।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः॥११२॥

—योगशास्त्र

६. 'निर्लाछन' का जब इससे पहले इस श्रावकाचार में कहीं नामनिर्देश नहीं किया गया, तब फिर यह लक्षण निर्देश कैसा?

इन १५ कर्मादानों के स्वरूपकथन में जिन जिन कर्मों का निषेध किया गया है, प्रायः उन सभी कर्मों का निषेध उमास्वामिश्रावकाचार में भी श्लोक नं० ४०३ से ४१२ तक पाया जाता है। परन्तु १४ कर्मादान त्याज्य हैं, वे कौन-कौन से हैं और उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप क्या है, इत्यादि वर्णन कुछ भी नहीं मिलता। योगशास्त्र के उपर्युक्त चारों श्लोकों से मिलते-जुलते उमास्वामिश्रावकाचार में निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं, जिनसे मालूम हो सकता है कि इन पद्यों में कितना और किस प्रकार परिवर्तन किया गया है—

अंगारभ्राष्टकरणमयः स्वर्णादिकारिता।
 इष्टकापाचनं चेति त्यक्तव्यं मुक्तिकाक्षिभिः॥४०४॥
 नवनीतवसामद्यमध्वादीनां च विक्रयः।
 द्विपाचतुष्पाच्च विक्रेयो न हिताय मतः क्वचित्॥४०६॥
 कंटनं नासिकावेधो मुष्कच्छेदोऽग्निभेदनम्।
 कर्णापनयनं नाम निर्लाछनमुदीरितम्॥४११॥
 केकीकुक्कुटमार्जारसारिकाशुकमंडलाः ।
 पोष्यन्ते न कृतप्राणिघाताः पारावता अपि॥४०३॥

—उमास्वामिश्रावकाचार

भगवदुमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर 'गंधहस्ति' नाम का महाभाष्य रचने वाले और रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्वत्शिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्य का अस्तित्व विक्रम की दूसरी शताब्दी के लगभग माना जाता है। पुरुषार्थसिद्धचुपायादि ग्रन्थों के रचयिता श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने विक्रम की १०वीं शताब्दी में अपने अस्तित्व से इस पृथ्वीतल को सुशोभित किया, ऐसा कहा जाता है। यशस्तिलक के निर्माणकर्ता श्री सोमदेव सूरि विक्रम की ११वीं शताब्दी में विद्यमान थे और उन्होंने वि०सं० १०१६ (शक संवत् ८८१) में यशस्तिलक को बनाकर समाप्त किया है। धर्मपरीक्षा तथा उपासकाचारादि ग्रन्थों के कर्ता श्री अमितगत्याचार्य विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। योगशास्त्रादि बहुत से ग्रन्थों की रचना करने वाले श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि राजा कुमारपाल के समय में अर्थात् विक्रम की १३वीं शताब्दी में (संवत् १२२९ तक) मौजूद थे। विवेकविलास के कर्ता श्वेताम्बर साधु श्री जिनदत्तसूरि विक्रम की १३वीं शताब्दी में हुए हैं और पं० मेधावी का अस्तित्व समय १६वीं शताब्दी निश्चित है। आपने धर्मसंग्रहश्रावकाचार को विक्रम संवत् १५४१ में बनाकर पूरा किया है।

अब पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रन्थ (उमास्वामिश्रावकाचार), जिसमें बहुत पीछे से होने वाले इन उपर्युक्त विद्वानों के ग्रन्थों से पद्य लेकर उन्हें ज्यों का त्यों या परिवर्तित करके रखा है, कैसे सूत्रकार भगवदुमास्वामी का बनाया हुआ हो सकता है? सूत्रकार भगवान् उमास्वामी की असाधारण योग्यता और उस समय की परिस्थिति को, जिस समय में कि उनका अवतरण हुआ है, सामने रखकर परिवर्तित पद्यों तथा ग्रन्थ के अन्य स्वतंत्र बने हुए पद्यों का सम्यगवलोकन करने से

साफ मालूम होता है कि यह ग्रन्थ उक्त सूत्रकार भगवान् का बनाया हुआ नहीं है। बल्कि उनसे दशों शताब्दी पीछे का बना हुआ है।

विरुद्धकथन

इस ग्रन्थ के एक पद्य में व्रत के सकल और विकल ऐसे दो भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है कि सकल व्रत के १३ भेद और विकल व्रत के १२ भेद हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

सकलं विकलं प्रोक्तं द्विभेदं व्रतमुत्तमं।

सकलस्य त्रिदशभेदा विकलस्य च द्वादश॥२५९॥

परन्तु सकल व्रत के १३ भेद कौनसे हैं? यह कहीं पर इस शास्त्र में प्रकट नहीं किया। तत्त्वार्थसूत्र में सकलव्रत अर्थात् महाव्रत के पाँच भेद वर्णन किये हैं। जैसा कि निम्नलिखित दो सूत्रों से प्रकट है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥७/१॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥७/२॥

संभव है कि पंचसमिति और तीन गुप्ति को शामिल करके तेरह प्रकार का सकलव्रत ग्रन्थकर्ता के ध्यान में रहा हो। परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में, जो भगवान् उमास्वामी का सर्वमान्य ग्रन्थ है, इन पंचसमिति और तीन गुप्तियों को व्रत संज्ञा में दाखिल नहीं किया है। विकलव्रत की संख्या जो बारह लिखी है, वह ठीक है और यही सर्वत्र प्रसिद्ध है। तत्त्वार्थसूत्र में १२ व्रतों का वर्णन है, जैसा कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों को निम्नलिखित सूत्रों के साथ पढ़ने से ज्ञात होता है—

अणुव्रतोऽगारी॥७/२०॥

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-

परिभोगपरिमाणातिथिसंविभाग-व्रतसंपन्नश्च ॥७/२१॥

इस श्रावकाचार के श्लोक नं० ३२८^७ में भी इन गृहस्थोचित व्रतों के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह भेद वर्णन किये गये हैं। परन्तु इसी ग्रन्थ के दूसरे पद्य में ऐसा लिखा है कि—

एवं व्रतं मया प्रोक्तं त्रयोदशविधायुतम्।

निरतिचारकं पाल्यं तेऽतीचारास्तु सप्ततिः॥४६१॥

अर्थात् मैंने यह तेरह प्रकार का व्रत वर्णन किया है, जिसको अतिचारों से रहित पालना चाहिए और वे (व्रतों के) अतिचार संख्या में ७० हैं।

यहाँ पर व्रतों की यह १३ संख्या ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं० २५९ और ३२८ से तथा तत्त्वार्थसूत्र के कथन से विरुद्ध पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्र में ‘सल्लेखना’ को व्रतों से अलग वर्णन किया

७. “अणुव्रतानि पंच स्युस्त्रिप्रकारं गुणव्रताम्। शिक्षाव्रतानि चत्वारि सागाराणां जिनागमे॥३२८॥”

गया है। इसलिए सल्लेखना को शामिल करके यह तेरह की संख्या पूरी नहीं की जा सकती।

व्रतों के अतिचार भी तत्त्वार्थसूत्र में ६० ही वर्णन किये हैं। यदि सल्लेखना को व्रतों में मानकर उसके पाँच अतिचार भी शामिल कर लिये जावें, तब भी ६५ (१३३५) ही अतिचार होंगे। परन्तु यहाँ पर व्रतों के अतिचारों की संख्या ७० लिखी है, यह एक आश्चर्य की बात है। सूत्रकार भगवान् उमास्वामी के वचन इस प्रकार परस्पर या पूर्वापर विरोध को लिये हुए नहीं हो सकते। इसी प्रकार का परस्पर विरुद्ध कथन और भी कई स्थानों पर पाया जाता है। एक स्थान पर शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्वशक्त्या क्रियते यत्र संख्या भोगोपभोगयोः।

भोगोपभोगसंख्याख्यं तत्तृतीयं गुणव्रतम्॥४३०॥

इस पद्य से यह साफ प्रकट होता है कि ग्रन्थकर्ता ने तत्त्वार्थसूत्र के विरुद्ध भोगोपभोगपरिमाणव्रत को शिक्षाव्रत के स्थान में तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है परन्तु इससे पहले खुद ग्रन्थकर्ता ने ‘अनर्थदण्डविरति’ को ही तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है और वहाँ दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरति, ऐसे तीनों गुणव्रतों का कथन किया है। गुणव्रतों का कथन समाप्त करने के बाद ग्रन्थकार इससे पहले आद्य के दो शिक्षाव्रतों (सामायिक-प्रोषधोपवास) का स्वरूप भी दे चुके हैं। अब यह तीसरे शिक्षाव्रत के स्वरूपकथन का नम्बर था, जिसको आप गुणव्रत लिख गये। कई आचार्यों ने भोगोपभोगपरिमाणव्रत को गुणव्रत में माना है। मालूम होता है कि यह पद्य किसी ऐसे ही ग्रन्थ से लिया गया है, जिसमें भोगोपभोगपरिमाणव्रत को तीसरा गुणव्रत वर्णन किया है और ग्रन्थकार इसमें शिक्षाव्रत का परिवर्तन करना भूल गये अथवा उन्हें इस बात का स्मरण नहीं रहा कि हम शिक्षाव्रत का वर्णन कर रहे हैं। योगशास्त्र में भोगोपभोगपरिमाणव्रत को दूसरा गुणव्रत वर्णन किया है और उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते।

भोगोपभोगमानं तद्वैतृतीयकं गुणव्रतम् ॥३/४॥

यह पद्य ऊपर के पद्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। संभव है कि इसी पर से ऊपर का पद्य बनाया गया हो और ‘गुणव्रतम्’ पद का परिवर्तन करना रह गया हो।

इस ग्रन्थ के एक पद्य में ‘लोंच’ का कारण भी वर्णन किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है—

अदैन्यवैराग्यकृते कृतोऽयं केशलोचकः।

यतीश्वराणां वीरत्वं व्रतनैर्मल्यदीपकः ॥५०॥

इस पद्य का ग्रन्थ में पूर्वोत्तर के किसी भी पद्य से कुछ सम्बन्ध नहीं है। न कहीं इससे पहले लोंच का कोई जिक्र आया और न ग्रन्थ में इसका कोई प्रसंग है। ऐसा असम्बन्ध और अप्रासंगिक कथन उमास्वामी महाराज का नहीं हो सकता। ग्रन्थकर्ता ने कहाँ पर से यह मजमून लिया है और किस प्रकार से इस पद्य को यहाँ देने में गलती खाई है, ये सब बातें जरूरत होने पर फिर कभी प्रकट की

जायेंगी।

इन सब बातों के सिवा इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर ऐसा कथन भी पाया जाता है, जो युक्ति और आगम से बिल्कुल विरुद्ध जान पड़ता है और इसलिए उससे और भी ज्यादा इस बात का समर्थन होता है कि यह ग्रन्थ भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ नहीं है। ऐसे कथन के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(१) ग्रन्थकार महाशय एक स्थान पर लिखते हैं कि जिस मंदिर पर ध्वजा नहीं है, उस मंदिर में किये हुए पूजन, होम और जपादिक सब ही विलुप्त हो जाते हैं अर्थात् उनका कुछ भी फल नहीं होता। यथा—

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम्।

सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥१०७॥

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि जो मनुष्य फटे, पुराने, खण्डित या मैले वस्त्रों को पहनकर दान, पूजन, तप, होम या स्वाध्याय करता है तो उसका ऐसा करना निष्फल होता है। यथा—

खंडिते गलिते छिन्ने मलिने चैव वाससि।

दानं पूजा तपो होमः स्वाध्यायो विफलं भवेत्॥१३६॥

मालूम नहीं होता कि मंदिर के ऊपर की ध्वजा का इस पूजनादिक के फल के साथ कौन-सा सम्बन्ध है और जैनमत के किस गूढ़ सिद्धान्त पर ग्रन्थकार का यह कथन अवलम्बित है। इसी प्रकार यह भी मालूम नहीं होता कि फटे, पुराने तथा खण्डित वस्त्रों का दान, पूजन, तप और स्वाध्यायादि के फल से कौनसा विरोध है, जिसके कारण इन कार्यों का करना ही निरर्थक हो जाता है। भगवदुमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और श्री अकलंकदेवादि टीकाकारों ने 'राजवार्तिक' आदि ग्रन्थों में शुभाशुभ कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारणों का विस्तार के साथ वर्णन किया है परन्तु ऐसा कथन कहीं नहीं पाया जाता, जिससे यह मालूम होता हो कि मंदिर की एक ध्वजा भी भावपूर्वक किये हुए पूजनादिक के फल को उलट-पुलट कर देने में समर्थ है। सच पूछिये तो मनुष्य के कर्मों का फल उसके भावों की जाति और उनकी तन्मयता पर निर्भर है। एक गरीब आदमी अपने फटे पुराने कपड़ों को पहने हुए ऐसे मंदिर में जिसके शिखर पर ध्वजा भी नहीं है, बड़े प्रेम के साथ परमात्मा का पूजन और भजन कर रहा है और सिर से पैर तक भक्तिरस में डूब रहा है, वह उस मनुष्य से अधिक पुण्य उपार्जन करता है, जो अच्छे सुन्दर नवीन वस्त्रों को पहने हुए ध्वजा वाले मन्दिर में बिना भक्तिभाव के, सिर्फ अपने कुल की रीति समझता हुआ पूजनादिक करता हो। यदि ऐसा नहीं माना जाये अर्थात् यह कहा जाये कि फटे-पुराने वस्त्रों के पहिनने या मन्दिर पर ध्वजा न होने के कारण उस गरीब आदमी के उन भक्ति भावों का कुछ भी फल नहीं है। तो जैनियों को अपनी कर्म फिलोसोफी को उठाकर रख देना होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये इन दोनों पद्यों का कथन युक्ति और आगम से विरुद्ध है। इनमें से पहला पद्य श्वेताम्बरों के 'विवेकविलास' का पद्य है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया

गया है।

(२) इस ग्रन्थ के पूजनाध्याय में पुष्पमालाओं से पूजन का विधान करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि चम्पक और कमल के फूल का उसकी कली आदि को तोड़ने के द्वारा भेद करने से मुनिहत्या के समान पाप लगता है। यथा—

नैव पुष्पं द्विधाकुर्यान्न छिद्यात्कलिकामपि।

चम्पकोत्पलभेदेन यतिहत्यासमं फलम्॥१२७॥

यह कथन बिल्कुल जैनसिद्धान्त और जैनागम के विरुद्ध है। कहाँ तो एकेन्द्रिय फूल की पंखुड़ी आदि का तोड़ना और कहाँ मुनि की हत्या! दोनों का पाप कदापि समान नहीं हो सकता। जैनशास्त्रों में एकेन्द्रिय जीवों के घात से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के घातपर्यंत और फिर पंचेन्द्रिय जीवों में भी क्रमशः गौ, स्त्री, बालक, सामान्य मनुष्य, अविरत सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक और मुनि के घात से उत्पन्न हुई पाप की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक वर्णन की है और इसीलिए प्रायश्चित्तसमुच्चयादि प्रायश्चित्त ग्रन्थों में भी इसी क्रम से हिंसा का उत्तरोत्तर अधिक दण्डविधान कहा गया है। कर्मप्रकृतियों के बन्धाधिक का प्ररूपण करने वाले और “तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात-भावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः” इत्यादि सूत्रों के द्वारा कर्मास्त्रियों की न्यूनाधिकता दर्शाने वाले सूत्रकार महोदय का ऐसा असमंजस वचन कि एक फूल की पंखुड़ी तोड़ने का पाप मुनिहत्या के समान है, कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार के और भी बहुत से असमंजस और आगमविरुद्ध कथन इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं, जिन्हें इस समय छोड़ा जाता है। जरूरत होने पर फिर कभी प्रकट किये जायेंगे।

जहाँ तक मैंने इस ग्रन्थ की परीक्षा की है, मुझे ऐसा निश्चय होता है और इसमें कोई संदेह बाकी नहीं रहता कि यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवान् उमास्वामी महाराज का बनाया हुआ नहीं है और न किसी दूसरे ही माननीय जैनाचार्य का बनाया हुआ है। ग्रन्थ के शब्दों और अर्थों से इस ग्रन्थ का बनाने वाला कोई मामूली, अदूरदर्शी और क्षुद्रहृदय व्यक्ति मालूम होता है और यह ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के बाद १७ वीं शताब्दी के अन्त में या उससे भी कुछ काल बाद, उस वक्त बनाया जाकर, भगवान् उमास्वामी के नाम से प्रकट किया गया है, जबकि तेरहपंथ की स्थापना हो चुकी थी और उसका प्राबल्य बढ़ रहा था। यह ग्रन्थ क्यों बनाया गया है? इसका सूक्ष्म विवेचन फिर किसी लेख द्वारा जरूरत होने पर प्रकट किया जायेगा। परन्तु यहाँ पर इतना बतला देना जरूरी है कि इस ग्रन्थ में पूजन का एक खास अध्याय है और प्रायः उसी अध्याय की इस ग्रन्थ में प्रधानता मालूम होती है। शायद इसीलिए हलायुध जी ने, अपनी भाषाटीका के अन्त में इस श्रावकाचार को ‘पूजाप्रकरण नाम श्रावकाचार’ लिखा है।

अन्त में विद्वज्जनों से मेरा सविनय निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ की अच्छी तरह से परीक्षा करके मेरे इस उपर्युक्त कथन की जाँच करें और इस विषय में उनकी जो सम्मति स्थिर होवे, उससे कृपाकर मुझे सूचित करने की उदारता दिखलाएँ। यदि परीक्षा से उन्हें भी यह ग्रन्थ सूत्रकार भगवान् उमास्वामी का बनाया हुआ साबित न होवे, तब उन्हें अपने उस परीक्षाफल को सर्वसाधारण पर प्रकट करना

चाहिए और इस तरह अपने साधारण भाइयों का भ्रम-निवारण करते हुए प्राचीन आचार्यों की उस कीर्ति को संरक्षित रखने में सहायक होना चाहिए, जिसको कषायवश किसी समय कलंकित करने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है कि विद्वज्जन मेरे इस निवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे और अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। इत्यलं विज्ञेषु।

